रोज़गार

यों द्रेज़



रोज़गार के ज़रिए ही ज़्यादातर लोग अपना पेट पालते हैं। कुछ लोग बिना कोई काम किए ही अपनी रोज़ी-रोटी कमा लेते हैं – मसलन महाजनी द्वारा, या चोरी करके, या दान, या फिर पेंशन के ज़रिए। लेकिन यह बात आबादी के एक छोटे-से तंबके पर ही लागू होती है। बाकियों को अपना व अपने परिजनों का पेट

पालने के लिए काम करना पड़ता है। बेरोज़गारी न सिर्फ बेरोज़गारों के लिए बल्कि सारे समाज के लिए एक गंभीर मसला है। जिनके पास रोज़गार है, उन पर भी समाज में व्याप्त बेरोज़गारी का आर्थिक बोझ पड़ता है, क्योंकि उन्हें बेरोज़गारों को सहारा देना होता है।

इसके अलावा बेरोज़गारी अक्सर बहुत-सी सामाजिक समस्याओं (शराब-खोरी, अपराध वगैरह) में इज़ाफा भी करती है। इन्हीं सब कारणों से विकास नीति के सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्यों में से एक सभी को रोज़गार के अवसर मुहैया कराना होना चाहिए।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बेरोज़गारी

बदकिस्मती से व्यापक तौर पर फैली बेरोज़गारी भारतीय अर्थव्यवस्था की दुखती रग है। भारतीय शहरों और गांवों मे जवान लोगों को यूं ही बेकाम पड़े देखना एक आम नज़ारा है – बावजूद इसके कि वे शारीरिक रूप से सक्षम होते हैं और किसी भी तरह के कमाऊ काम की उन्हें बेताबी से तलाश रहती है। इसमें से कुछ लोग अपना वक्त गपशप में, ताश-पत्ती खेलने में, या रेडियो सुनने में बिताते हैं। इसे 'प्रत्यक्ष बेरोज़गारी' कह सकते हैं।

कई लोग रस्सी बुनने, घास-फूस इकट्ठी करने, भीख मांगने, फेरी लगाने जैसे कामों से थोड़ा-बहुत पैसा कमा लेने की कोशिश में लगे रहते हैं। इन कोशिशों को 'अप्रत्यक्ष बेरोज़गारी' का नाम दिया जा सकता है। 'अप्रत्यक्ष बेरोज़गारी' से यह आशय है कि लोग किसी तरह की उत्पादक गतिविधि में तो जुटे रहते हैं, लेकिन ये गतिविधियां उनके हुनर का ठीक-ठाक इस्तेमाल नहीं करती हैं और उन्हें पैसा भी कम ही मिलता है। लोग ये काम इसलिए



करते हैं क्योंकि उनके पास रोज़गार के उचित अवसर उपलब्ध नहीं होते। भारत में प्रत्यक्ष बेरोज़गारी इतनी आम नहीं है (कम ही लोग खालिस काहिली बरत सकते हैं) लेकिन अप्रत्यक्ष बेरोज़गारी तो चहुं ओर है।

स्व-रोज़गार व वैतनिक रोज़गार

रोज़गार मुख्यतः दो प्रकार का होता है – स्व-रोज़गार और वैतनिक रोज़गार। स्व-रोज़गार के मामले में, काम के उत्पादन पर उस व्यक्ति (या परिवार) का हक होता है जो काम कर रहा है। इसका सबसे आम उदाहरण छोटी जोत वाली खेती है।

अपनी ज़मीन जोतने वाला किसान स्व-रोज़गार में लगा हुआ है, और अपने खेत की फसल पर उसी का हक होता है। कुम्हार, बुनकर, बढ़ई जैसे कारीगर बहुधा स्व-रोज़गार में लगे होते हैं। जबकि वैतनिक-रोज़गार के मामले में कार्य के उत्पादन पर काम करने वाले का हक नहीं होता; वह तो किसी और के लिए काम करता या करती है और उत्पादन पर उस काम को देने वाले का हक होता है। जैसे खेतिहर मज़दूर वैतनिक रोज़गार से अपनी बसर करते हैं; इसी तरह फैक्ट्री मज़दूर व ऑफिसों में काम करने वाले लोग भी हैं।*

भारत में कुल मौजूद रोज़गार में स्व-रोज़गार का हिस्सा दिनों दिन उतार पर है व भविष्य में भी इसके और गिरने की संभावना है। इसका एक कारण तो कुम्हारी, बुनकरी और चर्मकारी जैसे पारम्परिक स्व-रोज़गारों का घटना है। आधुनिक उत्पादन प्रक्रियाएं इन्हें क्रमशः हाशिए पर धकेल रही हैं। आखिर आधुनिक कारखानों के पास बड़े पैमाने के उत्पादन, आधुनिक टेक्नोलॉजी, व्यापक विज्ञापन नेटवर्क और सरकारी रियायतों जैसी कई सुविधाएं हैं।

कुल उपलब्ध रोज़गार में स्व-रोज़गार के हिस्से के घटने का एक कारण और है – दफ्तरों व आधुनिक उद्योगों का तेज़ फैलाव। ये संस्थान पुरज़ोर तरीके से वैतनिक रोज़गार पर आधारित होते हैं। शहरी इलाकों में कामकाजी लोगों का एक बहुत बड़ा हिस्सा फैक्ट्रियों व दफ्तरों में काम करने वाले कर्मचारी होते हैं। यहां तक कि ग्रामीण इलाकों में भी गैर-किसानी वैतनिक रोज़गार की अहमियत दिनों-दिन बढ़ रही है। आज कल गांव के भी बहुत से लोग अपनी रोज़ी-रोटी के लिए करीबी शहरों की फैक्ट्रियों या दफ्तरों में काम करने जाते हैं।

* ऐसे भी रोज़गार हैं जो इन तरह के रोज़गारों में साफ-साफ फिट नहीं बैठते, मसलन पारंपरिक यजमानी। इसमें मालिक व नौकर का रिश्ता सामान्य वैतनिक रोज़गार की तुलना में कहीं जटिल होता है और इसे स्व-रोज़गार की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता।

बाकी बहुत से गांव वाले वहीं अपने गांव में अध्यापक, पोस्टमास्टर या चौकीदार वगैरह बन जाते हैं। यह हालत आज से पचास साल पहले की उस स्थिति के एकदम विपरीत है जब ज़्यादातर ग्रामवासी, किसान, खेतिहर मज़दूर या कारीगर हुआ करते थे।

एक सिक्के के दो पहलू

भारतीय अर्थव्यवस्था में वैतनिक रोज़गार द्वारा स्व-रोज़गार के क्रमिक विस्थापन के नतीजे सकारात्मक भी हैं तो नकारात्मक भी। गाहे-ब-गाहे यह दलील भी दी जाती है कि वैतनिक रोज़गार के मुकाबले स्व-रोज़गार बेहतर आर्थिक सुरक्षा प्रदान करता है। क्योंकि अपने ही लिए काम करने वाले किसी व्यक्ति को काम के लिए औरों का मोहताज नहीं होना पड़ता। लेकिन मामला इतना सादा भी नहीं।

स्व-रोज़गार में लगे व्यक्ति को भी बहुतेरी आर्थिक असुरक्षाएं घेरे रहती हैं; खराब मौसम के कारण कोई किसान अपनी फसल से हाथ धो सकता है, या आधुनिक टेक्नोलॉजी किसी कारीगर का काम छीन सकती है। हां, यह ज़रूर सच है कि तनख्वाहदार व्यक्ति अपने मालिक की मातहती में रहता है जबकि स्व-रोज़गार वाला व्यक्ति उसके मुकाबले ज़्यादा आज़ाद होता है। दूसरी तरफ सरकारी नौकरी जैसे रोज़गार आपको बेहतर सामाजिक हैसियत, सुरक्षा व पैसा दिला सकते हैं। इसलिए वैतनिक रोज़गार द्वारा स्व-रोज़गार का विस्थापन, काम करने वाले की स्थिति में सुधार लाएगा या बिगाड़, यह इस बात पर निर्भर करता है कि दोनों ही मामलों में काम की शर्तें व परिस्थितियां कैसी हैं?

स्वरोज़गार कौन कर सकता है?

ऐसा क्यों है कि कुछ लोग स्व-रोज़गार का ज़रिया अपनाते हैं तो कुछ लोग नौकरी चुनते हैं? इसका एक जवाब तो यह होगा कि स्व-रोज़गार के ज़रिए अपनी ज़िन्दगी चलाने के लिए किसी को भी ऐसे दीगर संसाधनों (मसलन पूंजी) की ज़रूरत होती है जो उसकी मेहनत को उत्पादक बना सकें। उदाहरण के लिए ज़मीन या किसी अच्छी जगह पर बनी दुकान।

ग्रामीण भारत के बहुतेरे उत्पादक संसाधन (ज़मीन, भार ढोने वाले जानवर, सिंचाई-उपकरण वगैरह) व्यक्तिगत मालिकी की हद में आते हैं और उनका वितरण भी खासा असमान है। ज़मीन जैसे सबसे ज़्यादा अहम संसाधन के संदर्भ में तो यह बात खासतौर पर लागू होती है – कुछेक के पास बहुत सारी ज़मीन तो बहुतों के पास बिलकुल भी नहीं। बेज़मीन

लोगों को आमतौर पर अपने गुज़ारे के लिए किसी और की नौकरी करनी पड़ती है।

लेकिन यह नज़ारा हर देश में नहीं है, जैसे चीन को ही लें। वहां ज़मीन की मालिकी राज्य के पास होती है और किसी भी गांव के सारे वयस्क रहवासी ज़मीन के एक-बराबर हिस्सों पर खेती करने के अधिकारी होते हैं। मान लीजिए किसी गांव में चार हज़ार बीघा ज़मीन है और वयस्कों की संख्या पांच सौ है, तो हरेक वयस्क को खेती के लिए 8-8 बीघा ज़मीन मिलेगी। ज़मीन मालिकी की इस समान-वितरण-व्यवस्था के कारण ग्रामीण चीन के ज़्यादातर लोगों के पास स्व-रोज़गार की सुविधा है और इसीलिए वहां वैतनिक काम उतना आम नहीं जितना कि भारत में है। जापान, ताईवान और दक्षिण-कोरिया जैसे अन्य एशियाई देशों में भी बुनियादी भूमि-सुधार लागू होने के कारण समान भूमि-वितरण हो पाया है।

लेकिन, ऐसे भी देश हैं जहां ज़मीन का वितरण भारत से भी ज़्यादा असमान है। मसलन दक्षिण अमेरिका के कुछ इलाकों में ज़्यादातर ज़मीन पर कुछेक धनी परिवारों की मालिकी है और आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा बेज़मीन है। इन इलाकों के ज़्यादातर लोगों को वैतनिक मज़दूरी का रास्ता अख्तियार करना पड़ता है।

मानव पूंजी और स्वरोज़गार

ज़मीन या किसी और भौतिक संसाधन का स्वामित्व न होने के बावजूद, कुछ लोगों के लिए स्व-रोज़गार के अवसर होते हैं – अगर उनमें ऐसा कोई खास कौशल हो जिसकी बाज़ार में मांग हो। बढ़ई और दर्जी ऐसे ही लोगों की श्रेणी में आते हैं, यद्यपि उनके पास अपने सामान्य औज़ारों के अलावा कोई और पूंजी नहीं होती। फिर भी वे स्व-रोज़गार के ज़रिए अपना पेट पाल लेते हैं। इन कौशलों को अर्थशास्त्री जब-तब 'मानव पूंजी' की श्रेणी में रखते हैं।

'मानव-पूंजी' का ही एक और महत्वपूर्ण स्वरूप है शिक्षा। आमतौर पर कम शिक्षा पाए एक व्यक्ति के मुकाबले एक सुशिक्षित व्यक्ति को स्व-रोज़गार के ही नहीं, नौकरी पाने के भी बेहतर और ज़्यादा मौके मिलते हैं। शिक्षा से उत्पादन तकनीकों के बारे में जानकारी या ज्ञान हासिल करना आसान हो जाता है। शिक्षा विपणन के अवसरों का पता लगाने में मददगार साबित होती है। शिक्षा के द्वारा प्रशासनिक काम को समझना आसान हो जाता है तथा यह भ्रष्ट अफसरशाही द्वारा किसी भी तरह की प्रताड़ना को टालने में मदद देती है। साथ ही, खेती के मामले में भी शिक्षा काफी उपयोगी साबित होती है। शिक्षित क़िसानों की

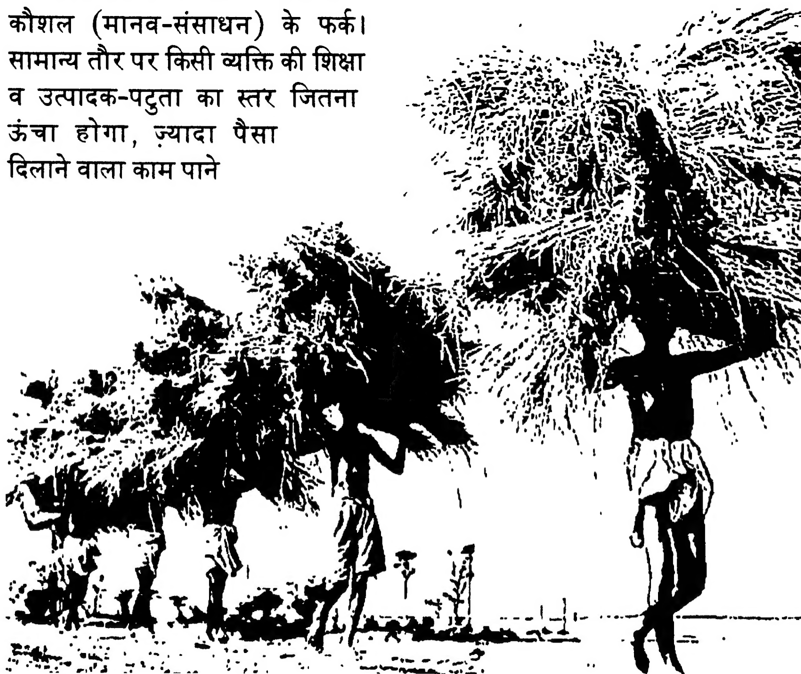
उत्पादकता और किसानों की बनिस्बत अमूमन बेहतर होती है।

कैसी नौकरी, कैसे लोग?

विभिन्न नौकरियों में सेवा की शर्तों में काफी अन्तर होता है। खेतिहर मज़दूर यहां सबसे निचले स्तर पर पाए जाते हैं। उन्हें बहुत कम मज़दूरी के हिसाब से दिहाड़ी पर काम करना पड़ता है (तकरीबन 30 रुपए यानी अनाज के चन्द किलो के बराबर)। दूसरे सिरे पर कुछेक नौकरी-पेशा लोग काफी प्रतिष्ठा व पैसा कमा लेते हैं: मसलन हवाई-जहाज़ के पायलट और दिल का इलाज करने वाले डॉक्टर। इन विसंगतियों के पीछे हैं शिक्षा व कौशल (मानव-संसाधन) के फर्क। सामान्य तौर पर किसी व्यक्ति की शिक्षा व उत्पादक-पटुता का स्तर जितना ऊंचा होगा, ज़्यादा पैसा दिलाने वाला काम पाने अवसर उसके लिए उतने ही ज़्यादा होंगे।

लेकिन हुनर व शिक्षा का होना, केवल किसी की नियति, या उसकी नैसर्गिक प्रतिभा का नतीजा नहीं है। शिक्षा व हुनर पाने के मौके सब लोगों को समान रूप से उपलब्ध जो नहीं होते।

भारत में समाज के अलग-अलग तबकों से आए बच्चों के लिए स्कूली शिक्षा पाने की सम्भावनाएं जुदा-जुदा हैं। शहरों में रहने वाले धनी परिवारों के बच्चों को अच्छे स्कूल मिलते हैं। दूसरी तरफ गांवों के गरीब बच्चों को



स्कूल जाने तक का मौका भी नहीं मिलता। लड़कियों के मामले में तो हालत और भी बदतर है, क्योंकि ज़्यादातर मां-बाप, शिक्षा के मामले में, लड़कों को ही तरजीह देते हैं। शिक्षा व हुनर पाने के अवसरों की यह शुरुआती असमानता ही आगे चलकर रोज़गार अवसरों में प्रति-बिम्बित होती है।

इस संदर्भ में पूर्वी एशियाई देशों (जैसे दक्षिण कोरिया) के अनुभव काबिले गौर हैं। इन देशों ने अपने विकास के शुरुआती दौर में जन-शिक्षा के पहलू पर खासा ध्यान दिया। नतीजतन भारत के मुकाबले इन देशों में शिक्षा का स्तर काफी ऊंचा है।

उदाहझरण के लिए एक औसत दक्षिण-कोरियाई युवक को नौ साल से भी ज़्यादा की स्कूली शिक्षा हासिल हुई, जबकि उसी के बरक्स एक औसत भारतीय वयस्क पुरुष केवल ढाई बरस की स्कूली शिक्षा से गुज़रा है। साथ ही दक्षिण-कोरिया की केवल 5 फीसदी वयस्क महिला आबादी निरक्षर है, जबकि भारत के संदर्भ में यह आंकड़ा 61 फीसदी ठहरता है।

मानव-संसाधन में इस शुरुआती निवेश की वजह से ही दक्षिण कोरिया के अधिकांश लोग अपेक्षाकृत बेहतर पारिश्रमिक वाला काम पाने के काबिल बने हैं।

लेकिन मामला यहीं खत्म नहीं होता। ठीक वही शिक्षा या कौशल हो, तो भी रोज़गार के अवसर सबके लिए समान नहीं हो पाते। एक जैसी शिक्षा या निपुणता होने के बावजूद अच्छी नौकरी पाने के अवसर अलग-अलग सामाजिक या आर्थिक पृष्ठभूमि से आए लोगों के लिए अलग-अलग होते हैं। मसलन सार्वजनिक क्षेत्र की कोई पक्की नौकरी पाने में, अच्छी राजनैतिक पहुंच मददगार होती है। साथ ही अगर पैसा हो तो भर्ती करने वाले अधिकारियों की हथेलियां गरम कर नौकरी पाई जा सकती है।

भारत में बहुत से लोगों के पास अच्छी तनख्वाह वाली नौकरी पाने हेतु ज़रूरी शिक्षा, कौशल या पहुंच नहीं होती। इनमें से कुछ लोग अपनी जीविका के लिए स्व-रोज़गार का मार्ग अपनाते हैं। तो कई लोग अकुशल मज़दूर बनकर दिहाड़ी पाते हैं। गांवों में जो लोग बेहतर रोज़गार हासिल नहीं कर पाते वे खेतिहर-मज़दूरी करते हैं।

[अगले अंक में जारी]

ज़्याँ द्रेज़: दिल्ली स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स में 'डिवेलपमेंट इकॉनोमिक्स' के विज़िटिंग प्रोफेसर। पूर्व में लंदन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स मे इसी विषय के व्याख्याता रह चुके हैं।

मूल लेख अंग्रेज़ी में; **अनुवाद: मनोहर नोतानी।**

